International Journal of Humanities and Social Science Research
www.socialsciencejournal.in
ISSN: 2455-2070
Received: 28-09-2025, Accepted: 28-10-2025, Published: 12-11-2025
Volume 11, Issue 6, 2025, Page No. 38-40

सुजाता से आर्टिकल 15 तक – मुख्यधारा के बॉलीवुड में दलित कहानियों का बदलाव

डॉ. कृष्ण कुमार
सहायक प्राध्यापक, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, चौधरी देवीलाल विश्वविद्यालय, सिरसा, हरियाणा, भारत

सारांश
यह शोध पत्र मुख्यधारा के हिंदी सिनेमा में दलित प्रतिनिधित्व के ऐतिहासिक और वैचारिक रूपांतरण की पड़ताल करता है, जिसमें बिमल रॉय की सुजाता (1959) से लेकर अनुभव सिन्हा की आर्टिकल 15 (2019) तक की यात्रा का पता लगाया गया है। यह अध्ययन इस बात की पड़ताल करता है कि बॉलीवुड ने भारतीय समाज के प्रमुख दृश्य और आख्यानात्मक ढाँचे के भीतर दलितों की छवि का निर्माण, उसमें बदलाव और पुनर्परिभाषित कैसे किया है। दलित अध्ययन, सबाल्टर्न सिद्धांत और सांस्कृतिक अध्ययन का उपयोग करते हुए, यह शोध पत्र इस बात की पड़ताल करता है कि जाति पर विमर्श नेहरूवादी युग की मानवतावादी सहानुभूति से लेकर समकालीन सिनेमा की राजनीतिक चेतना तक कैसे विकसित हुआ है। चुनिंदा फिल्मों के गहन पाठ्य विश्लेषण और सामाजिक–राजनीतिक घटनाक्रमों के साथ प्रासंगिक जुड़ाव के माध्यम से, यह शोध बताता है कि कैसे मुख्यधारा का बॉलीवुड, धीरे–धीरे जातिगत वास्तविकताओं से जुड़ते हुए, प्रामाणिक दलित प्रतिनिधित्व के लिए संघर्ष करता रहा है। अध्ययन का निष्कर्ष है कि यद्यपि आर्टिकल 15 जातिगत अन्याय की सार्वजनिक अभिव्यक्ति में एक महत्वपूर्ण मोड़ है, फिर भी वास्तविक प्रतिनिधित्वात्मक परिवर्तन के लिए कैमरे के पीछे और सामने दलित आवाज़ों को शामिल करना ज़रूरी है।

मूल शब्द: दलित प्रतिनिधित्व, बॉलीवुड सिनेमा, जाति, सबाल्टर्न अध्ययन, सांस्कृतिक राजनीति, फ़िल्म आख्यान, सुजाता, आर्टिकल 15, दृश्य विचारधारा, सामाजिक न्याय

प्रस्तावना

भारतीय सिनेमा, विशेष रूप से मुख्यधारा का बॉलीवुड, लंबे समय से राष्ट्र के सामाजिक, राजनीतिक और नैतिक ताने–बाने को प्रतिबिंबित करने वाले सांस्कृतिक दर्पण के रूप में कार्य करता रहा है। फिर भी, यह प्रतिबिंब अक्सर चयनात्मक रहा है, जिसमें प्रमुख–जाति के आख्यानों को विशेषाधिकार दिया गया है जबकि निम्न–वर्गीय पहचानों को हाशिए पर रखा गया है या चुप करा दिया गया है। दलितों का प्रतिनिधित्व—ऐतिहासिक रूप से उत्पीड़ित समुदाय जो भारत के जाति पदानुक्रम में सबसे निचले पायदान पर हैं—भारतीय फिल्म अध्ययन में सबसे अधिक विवादित और कम खोजे गए क्षेत्रों में से एक रहा है। 1950 के दशक के स्वतंत्रता–उत्तर आदर्शवाद से लेकर 21वीं सदी के राजनीतिक रूप से आवेशित विमर्शों तक, दलित जीवन के सिनेमाई चित्रण अदृश्यता, प्रतीकात्मकता, सहानुभूति और दावे के बीच बातचीत के एक जटिल प्रक्षेपवक्र को प्रकट करते हैं।

इस शोधपत्र का उद्देश्य बॉलीवुड में दलित आख्यानों के परिवर्तन का विश्लेषण करना है, जो सुजाता (1959), जो जातिगत भेदभाव से स्पष्ट रूप से निपटने वाली शुरुआती फिल्मों में से एक थी, से लेकर आर्टिकल 15 (2019) तक है, जो जातिगत मुद्दों के साथ राजनीतिक जुड़ाव के एक नए युग का प्रतिनिधित्व करती है। इस परिवर्तन का अध्ययन एक अंतः विषयक ढाँचे के माध्यम से किया जाएगा जो दलित अध्ययन, सबाल्टर्न सिद्धांत और सांस्कृतिक अध्ययन को जोड़ता है, और दलितों के प्रतिनिधित्व और दलितों द्वारा प्रतिनिधित्व के बीच तनाव पर ज़ोर देता है।

साहित्य समीक्षा: जाति और सिनेमा पर विद्वत्तापूर्ण विमर्श पिछले दो दशकों में काफ़ी बढ़ा है, हालाँकि मुख्यधारा की फ़िल्म आलोचना ऐतिहासिक रूप से जाति को सीधे संबोधित करने से बचती रही है। शर्मिला रेगे (2003) इस बात पर ज़ोर देती हैं कि भारत में जाति केवल एक सामाजिक पदानुक्रम नहीं है, बल्कि ज्ञानात्मक और सौंदर्यात्मक प्रभुत्व की एक संरचना है, जो सांस्कृतिक उत्पादों—जिसमें फ़िल्में भी शामिल हैं—के निर्माण और उपभोग को प्रभावित करती है। गोपाल गुरु और सुंदर सरुक्कई (2012) का तर्क है कि भारत में ज्ञान उत्पादन की राजनीति ने दलित आवाज़ों को व्यवस्थित रूप से बहिष्कृत कर दिया है, और यह एक ऐसा पैटर्न है जो सिनेमाई आख्यानों के निर्माण में भी दिखाई देता है।

रेचल ड्वायर (2006) और आशीष राजाध्यक्ष (2009) ने बॉलीवुड द्वारा राष्ट्र और मध्यम वर्ग की वैचारिक रचना पर चर्चा की है, और उच्च–जाति के अनुभवों को राष्ट्रीय संस्कृति के रूप में सार्वभौमिक बनाने की प्रवृत्ति पर प्रकाश डाला है। सूरज येंगड़े और एस. आनंद जैसे दलित फिल्म विद्वानों ने मुख्यधारा के हिंदी सिनेमा की इस बात के लिए आलोचना की है कि उसमें दलितों को निष्क्रिय पीड़ित, हाशिये पर पड़े व्यक्ति या उच्च–जाति के नायकों के उद्धार के नैतिक साधन के रूप में चित्रित किया गया है।

हाल ही में, आलोचकों ने मसान (2015), काला (2018) और आर्टिकल 15 (2019) जैसी फिल्मों में जातिगत राजनीति से सीधे जुड़ाव की ओर एक बदलाव देखा है। हालाँकि, जैसा कि चिन्नैया जंगम (2020) कहते हैं, ये चित्रण अक्सर गैर–दलित फिल्म निर्माताओं की ओर से सामने आते हैं, जिससे प्रामाणिकता और कथात्मक अभिकरण पर सवाल उठते हैं। वर्तमान शोध सिनेमाई रूप, विचारधारा और लेखकत्व के माध्यम से दलित चित्रण में आए परिवर्तन का पता लगाने के लिए इन विद्वानों की अंतर्दृष्टि पर आधारित है।

अनुसंधान पद्धति: यह अध्ययन पाठ्य और संदर्भगत विश्लेषण पर आधारित एक गुणात्मक और व्याख्यात्मक कार्यप्रणाली का उपयोग करता है। चयनित फिल्मों का विश्लेषण उनकी कथात्मक संरचना, चरित्र–चित्रण, दृश्य सौंदर्यशास्त्र और वैचारिक स्थिति के आधार पर किया गया है। प्राथमिक संग्रह में सुजाता (1959), अंकुर (1974), बैंडिट क्वीन (1994), लगान (2001), आरक्षण (2011), मसान (2015) और आर्टिकल 15 (2019) शामिल हैं। विश्लेषण इन फिल्मों को उनके ऐतिहासिक और सामाजिक–राजनीतिक संदर्भों में रखता है, और सिनेमाई परिवर्तनों को भारत में जाति और पहचान पर विकसित होते विमर्शों के साथ जोड़ता है।

सिनेमाई संकेत—कैमरा कोण, रंग पैलेट, संवाद और स्थानिक पदानुक्रम—दलित पहचान के बारे में अर्थ कैसे निर्मित करते हैं, यह समझने के लिए सांकेतिक और विमर्श विश्लेषण विधियों का उपयोग किया जाता है। सैद्धांतिक ढाँचा बी. आर. प्रतिनिधित्व और न्याय पर आंबेडकर के लेखन, स्टुअर्ट हॉल की "एनकोडिंग/डिकोडिंग" की अवधारणा, और गायत्री स्पिवाक का यह प्रश्न कि क्या सबाल्टर्न बोल सकता है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि– जाति और सिनेमा

एक सामाजिक–सांस्कृतिक संस्था के रूप में जाति ने भारतीय जीवन को गहराई से आकार दिया है, लेकिन इसका सिनेमाई प्रतिनिधित्व ऐतिहासिक रूप से मौन रहा है। भारतीय सिनेमा के शुरुआती दशक (1930–1950 के दशक) राष्ट्र–निर्माण परियोजना के साथ मेल खाते थे, जिसमें एकता, आधुनिकता और नैतिक व्यवस्था पर ज़ोर दिया गया था। फिल्म निर्माता अक्सर स्पष्ट जातिगत विषयों से बचते थे, और असमानता के रूपकात्मक चित्रण को प्राथमिकता देते थे। कुछ अपवाद—जैसे अछूत कन्या (1936)—ने सुधारवादी ढाँचों के भीतर जाति संघर्ष को रूमानी रूप दिया, जिसने अंततः संरचनात्मक आलोचना के बजाय सामाजिक सद्भाव की पुष्टि की।

नेहरूवादी समाजवाद से चिह्नित 1950 और 1960 के दशक में, बिमल रॉय और गुरुदत्त जैसे फिल्म निर्माताओं ने नैतिक करुणा के लेंस के माध्यम से सामाजिक अन्याय को संबोधित किया। हालाँकि, इन चित्रणों ने जातिगत पदानुक्रम को उसके मूल में शायद ही कभी चुनौती दी; इसके बजाय, उन्होंने इसे व्यक्तिगत पूर्वाग्रह के रूप में प्रस्तुत किया। इसका परिणाम मुक्ति के बजाय सहानुभूति का सिनेमा था—सामाजिक सुधार के प्रति उदार–मानवतावादी दृष्टिकोण का एक दृश्य विस्तार।

मानवीय सहानुभूति से– सुजाता (1959): बिमल रॉय की सुजाता बॉलीवुड के शुरुआती दौर के जाति–संबंधों में एक मील का पत्थर साबित होती है। यह फिल्म एक युवा दलित लड़की, सुजाता की कहानी कहती है, जिसे एक ब्राह्मण परिवार गोद लेता है और पालता है, लेकिन अपनी परवरिश के बावजूद सामाजिक रूप से बहिष्कृत रहती है। फिल्म का कथानक समानता और करुणा के उदार आदर्शों को मूर्त रूप देता है, जो स्वतंत्रता–उत्तर आशावाद के साथ मेल खाता है।

हालाँकि, सुजाता का संकल्प—जहाँ उच्च–जाति का नायक अंततः सुजाता को स्वीकार करता है—जाति उन्मूलन को सामाजिक क्रांति के बजाय व्यक्तिगत नैतिक जागृति के रूप में प्रस्तुत करता है। कैमरा उदार उच्च जाति के दृष्टिकोण को प्राथमिकता देता है; सुजाता की पीड़ा को राजनीतिक चेतना के बजाय सहानुभूति जगाने के लिए सौंदर्यबोधित किया गया है। इस अर्थ में, सुजाता दलित आलोचकों द्वारा "दया की राजनीति" कहे जाने वाले सिद्धांत को पुनः प्रस्तुत करती है, जिसमें दलितों को इतिहास के विषयों के बजाय नैतिक शिक्षा की वस्तु के रूप में स्थापित किया गया है।

यथार्थवादी मोड़: अंकुर (1974) और समानांतर सिनेमा –1970 के दशक में भारत के "समानांतर सिनेमा" का उदय हुआ, जिसने मुख्यधारा के बॉलीवुड की पलायनवादी प्रवृत्तियों को चुनौती देने का प्रयास किया। श्याम बेनेगल की अंकुर (1974) जाति और वर्ग उत्पीड़न को चित्रित करने में यथार्थवाद की ओर एक महत्वपूर्ण बदलाव का प्रतिनिधित्व करती है। फिल्म के दलित पात्र, लक्ष्मी और किष्टया, अपने दैनिक संघर्षों के माध्यम से प्रणालीगत हाशिए पर होने को दर्शाते हैं, और जातिगत शोषण के आर्थिक आयामों को उजागर करते हैं।

सुजाता के विपरीत, अंकुर नैतिक मुक्ति के माध्यम से समाधान की तलाश नहीं करता। इसके बजाय, यह जमींदार और मजदूर, उच्च जाति और दलित के बीच गहरे बैठे सत्ता संबंधों को उजागर करता है। फिर भी, यहाँ भी, कथा उच्च जाति के नायक के नैतिक संघर्ष पर केंद्रित है, न कि दलित निम्नवर्ग के अभिकरण पर। इस प्रकार, अंकुर ने दलित विषयों के लिए प्रतिनिधित्वात्मक स्थान का विस्तार किया, लेकिन यह लेखकीय दूरी और वैचारिक मध्यस्थता द्वारा सीमित रहा।

बैंडिट क्वीन (1994) से आरक्षण (2011): 1990 का दशक एक महत्वपूर्ण मोड़ साबित हुआ जब आर्थिक उदारीकरण ने राजनीतिक परिदृश्य को नया रूप दिया। शेखर कपूर की बैंडिट क्वीन (1994), जो फूलन देवी के जीवन पर आधारित थी, ने जातिगत और लैंगिक हिंसा का बेबाक चित्रण किया। हालाँकि, इस फिल्म ने प्रतिनिधित्व की नैतिकता को लेकर बहस छेड़ दी– जहाँ इसने दलित उत्पीड़न को सामने रखा, वहीं सिनेमाई प्रभाव के लिए आघात को सनसनीखेज बनाने का जोखिम भी उठाया। एक गैर–दलित पुरुष की नज़र से छनकर आई फूलन की भूमिका, शक्तिशाली और समस्याग्रस्त दोनों बन जाती है।

नई सहस्राब्दी में, लगान (2001) और आरक्षण (2011) जैसी फिल्मों ने जाति का स्पष्ट रूप से उल्लेख करने के बजाय प्रतीकात्मक रूप से उल्लेख किया। लगान एक "अछूत" पात्र, कचरा, को एक राष्ट्रवादी रूपक के भीतर समाहित करती है, लेकिन उसका समावेश सशक्तिकरण के बजाय नैतिक प्रतीक के रूप में कार्य करता है। जाति–आधारित आरक्षण को संबोधित करने के बावजूद, आरक्षण अंततः योग्यता–आधारित उच्च–जाति की चिंताओं को केंद्रित करता है। दलित विमर्श का विषय बना हुआ है, उसका उद्घोषक नहीं।

जाति–विमर्श की वापसी: मसान (2015) और आर्टिकल 15 (2019) – 2010 के दशक में हिंदी सिनेमा में जाति का एक केंद्रीय विषय के रूप में फिर से उदय हुआ, जो दलित सक्रियता के व्यापक सामाजिक और राजनीतिक पुनरुत्थान के साथ मेल खाता था, खासकर रोहित वेमुला मामले जैसी घटनाओं के बाद। एक दलित फिल्म निर्माता द्वारा निर्देशित नीरज घेवान की मसान (2015) ने एक महत्वपूर्ण हस्तक्षेप किया। यह फिल्म बनारस के घाट मजदूर दीपक को एक ऐसे नायक के रूप में प्रस्तुत करती है जिसकी पहचान और आकांक्षाएँ परंपरा और आधुनिकता के बीच के तनाव को मूर्त रूप देती हैं। फिल्म का संयमित यथार्थवाद और भावनात्मक अंतरंगता जाति के अनुभव की एक अंदरूनी समझ को दर्शाती है, जो दलितों के प्रतिनिधित्व से दलितों द्वारा प्रतिनिधित्व की ओर बदलाव का संकेत देती है।

अनुभव सिन्हा की आर्टिकल 15 (2019) मुख्यधारा के बॉलीवुड में जातिगत भेदभाव के साथ शायद सबसे सीधे जुड़ाव का प्रतिनिधित्व करती है। वास्तविक घटनाओं से प्रेरित, यह फिल्म जातिगत उत्पीड़न से जुड़ी व्यवस्थागत हिंसा, संस्थागत मिलीभगत और सामाजिक उदासीनता को उजागर करती है। इसकी कथा एक उच्च–जाति के पुलिस अधिकारी (आयुष्मान खुराना द्वारा अभिनीत) पर केंद्रित है, जो दलित लड़कियों की हत्या की जाँच करते हुए धीरे–धीरे अपने विशेषाधिकारों का सामना करता है। फिल्म का शीर्षक समानता की संवैधानिक गारंटी का संदर्भ देता है, जो खुद को राजनीतिक थ्रिलर और सामाजिक आलोचना दोनों के रूप में स्थापित करता है।

हालांकि, आर्टिकल 15 एक साथ उद्धारकर्ता के रूपक को कायम रखती है– उच्च–जाति के नायक का नैतिक जागरण न्याय का माध्यम बन जाता है। यह कथात्मक संरचना, यद्यपि उद्देश्य में प्रगतिशील है, सिनेमाई स्थान के भीतर उच्च–जाति के लेखकत्व के प्रभुत्व की पुष्टि करती है। फिर भी, फिल्म के सौंदर्य संबंधी विकल्प—इसके यथार्थवादी दृश्य, धूमिल रंग पैलेट, और संरचनात्मक अन्याय पर जोर—सुजाता के नैतिक सुधारवाद से एक महत्वपूर्ण वैचारिक विकास को चिह्नित करते

दृश्य सौंदर्यशास्त्र और प्रतिनिधित्व की राजनीतिः बॉलीवुड में दलित प्रतिनिधित्व केवल कथात्मक ही नहीं, बल्कि दृश्य रूप का भी विषय है। सुजाता की कोमल प्रकाश व्यवस्था और नाटकीय फ्रेमिंग, आर्टिकल 15 के काइरोस्कोरो यथार्थवाद और वृत्तचित्र जैसी बनावट के साथ बिल्कुल विपरीत है। भावनात्मक से राजनीतिक सौंदर्यशास्त्र की ओर बदलाव सिनेमाई विचारधारा में एक व्यापक परिवर्तन को दर्शाता है।

जहाँ सुजाता सहानुभूति जगाने के लिए भावुक संगीत और क्लोज़–अप का प्रयोग करती हैं, वहीं आर्टिकल 15 संरचनात्मक उत्पीड़न को उभारने के लिए स्थानिक अलगाव, छाया और मौन का उपयोग करता है। कैमरे की नज़र, जो कभी करुणामयी थी, अब खोजी हो जाती है। यह सौंदर्यात्मक विकास एक ज्ञानमीमांसीय बदलाव का प्रतीक है— दलितों को सुधार के विषय के रूप में देखने से लेकर जाति को हिंसा के एक व्यवस्थित, दृश्य रूप के रूप में समझने तक।

फिर भी, जैसा कि निकोलस मिर्ज़ोफ़ (2015) कहते हैं, दृश्य संस्कृति स्वाभाविक रूप से राजनीतिक होती है– जो नज़र को नियंत्रित करता है, वही निर्धारित करता है कि क्या देखा जाता है और उसकी व्याख्या कैसे की जाती है। जब तक दलित अपने सिनेमाई प्रतिनिधित्व को नियंत्रित नहीं करते, तब तक दृष्टि की राजनीति अधूरी रहेगी।

निष्कर्ष और चर्चाः मध्यवर्ती फिल्मों के संदर्भ में सुजाता और आर्टिकल 15 का तुलनात्मक विश्लेषण कई प्रमुख निष्कर्षों को उजागर करता है–

- **सहानुभूति से चेतना की ओरः** सुजाता के नैतिक मानवतावाद से आर्टिकल 15 के राजनीतिक यथार्थवाद में परिवर्तन व्यक्तिगत करुणा से प्रणालीगत आलोचना की ओर बदलाव को दर्शाता है।

- **निरंतर लेखकीय मध्यस्थताः** वैचारिक प्रगति के बावजूद, दोनों फिल्मों का निर्देशन गैर–दलित फिल्म निर्माताओं ने किया है। कथा उच्च–जाति के उद्धारक पात्रों पर निर्भर करती है, जो लेखन में संरचनात्मक विषमताओं को दर्शाती है।

- **दलित लेखन का उदयः** मसान और काला जैसी फिल्में सिनेमा में दलित आवाजों की बढ़ती उपस्थिति का संकेत देती हैं, जो जीवित अनुभवों पर आधारित प्रामाणिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करती हैं।

- **सिनेमाई आधुनिकता और प्रतिरोधः** डिजिटल और ओटीटी युग ने निर्माण और वितरण तक पहुँच को लोकतांत्रिक बना दिया है, जिससे बॉलीवुड की मुख्यधारा से बाहर वैकल्पिक दलित आख्यानों को संभव बनाया गया है।

- **प्रतिरोध का सौंदर्यशास्त्रः** दृश्य यथार्थवाद, न्यूनतम कथावाचन और प्रति–दृष्टि तकनीकें सिनेमाई भाषा में जातिगत आलोचना को अभिव्यक्त करने के प्रमुख उपकरण बन गए हैं।

कुल मिलाकर, ये निष्कर्ष बताते हैं कि बॉलीवुड में दलित प्रतिनिधित्व का परिवर्तन ठोस और अधूरा दोनों है— अदृश्यता से दृश्यता की ओर एक परिवर्तन, लेकिन अभी तक कथात्मक संप्रभुता की ओर नहीं।

निष्कर्ष

सुजाता (1959) से आर्टिकल 15 (2019) तक का सफ़र हिंदी सिनेमा में जाति और दलित पहचान के प्रति छह दशकों की विकसित होती चेतना को समेटे हुए है। जहाँ सुजाता ने भावुक करुणा के माध्यम से "अछूत" को मानवीय बनाने का प्रयास किया, वहीं आर्टिकल 15 जाति को सत्ता की एक व्यवस्थित संरचना के रूप में उजागर करती है जो राजनीतिक हिसाब–किताब की माँग करती है। इन दोनों फिल्मों के बीच भारत के लोकतांत्रिक अंतर्विरोधों—समानता की आकांक्षा और इसके स्थायी पदानुक्रमों—की कहानी निहित है।

बॉलीवुड द्वारा जाति की क्रमिक मान्यता एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक विकास का प्रतीक है, फिर भी सच्चे परिवर्तन के लिए दलित आवाज़ों का न केवल प्रतिनिधित्व होना आवश्यक है, बल्कि स्वयं का प्रतिनिधित्व करना भी आवश्यक है। दलित फिल्म निर्माताओं और लेखकों का उदय भारतीय सिनेमा में एक नए दौर का सूत्रपात करता है, जहाँ निम्न वर्ग कैमरे के माध्यम से अपनी बात कहने लगा है। भविष्य के शोध को इस उभरते हुए लेखकत्व और सिनेमाई विमर्श को सहानुभूति से सशक्तिकरण की ओर पुनर्गठित करने की इसकी क्षमता पर केंद्रित होना चाहिए।

निष्कर्षत,

बॉलीवुड में दलित आख्यानों का रूपांतरण केवल एक सिनेमाई विकास नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक और राजनीतिक समझौता है। जैसा कि आंबेडकर ने कल्पना की थी, समानता न केवल कानून में, बल्कि कल्पना में भी प्राप्त की जानी चाहिए। आधुनिक भारतीय कहानी कहने के सबसे प्रत्यक्ष रूप के रूप में सिनेमा, उस कल्पना को साकार करने की शक्ति और ज़िम्मेदारी दोनों रखता है।

संदर्भ सूची

1. आंबेडकर, बी. आर. (1945). जाति का विनाश (Annihilation of Caste). बॉम्बे– ठैकर एंड कंपनी।
2. ड्वायर, रेचेल. (2006). बॉलीवुड का भारत– आधुनिक भारत के लिए हिंदी सिनेमा एक मार्गदर्शक (Bollywood's Indi– Hindi Cinema as a Guide to Modern India). रीएक्शन बुक्स।
3. गुरु, जी., और सरुक्कई, एस. (2012). द क्रैक्ड मिरर– अनुभव और सिद्धांत पर एक भारतीय विमर्श (The Cracked Mirror& An Indian Debate on EÛperience and Theory). ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
4. जंगम, चंद्रशेखर. (2020). "समकालीन भारतीय सिनेमा में जाति" (Caste in Contemporary Indian Cinema). साउथ एशियन पॉपुलर कल्चर, 18(2), 97दृ112।
5. मिर्ज़ोएफ़, निकोलस. (2015). दुनिया को देखने का तरीका (How to See the World). पेलिकन बुक्स।
6. राजाध्यक्ष, अशिष, और विलेमेन, पॉल. (2009). भारतीय सिनेमा का विश्वकोश (Encyclopaedia of Indian Cinema). ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
7. रेगे, शोभा. (2003). लैंगिक समाजशास्त्र– नारीवादी समाजशास्त्रीय ज्ञान की चुनौती (Sociology of Gender& The Challenge of Feminist Sociological Knowledge). सेज पब्लिकेशन्स।
8. स्पिवाक, गायत्री चक्रवर्ती. (1988). "क्या अधीनस्थ बोल सकती है?" (Can the Subaltern Speak?). मार्क्सवाद और संस्कृति की व्याख्या में। यूनिवर्सिटी ऑफ इलिनोइस प्रेस।
9. येंगडे, सूर्यकांत. (2019). जाति मायने रखती है (Caste Matters). पेंगुइन रैंडम हाउस।